Original Article
ISSN (Online): 2582-7472

ShodhKosh: Journal of Visual and Performing Arts
January-June 2023 4(1), 942-945

Spontaneous Suffering, Art and Yoga: The Buddhist Context

सहज दुःख, कला और योग : बौद्ध संदर्भ

Krishna Chandra Pandey
डॉ. कृष्ण चंद पांडे

Assistant Professor
Center for Buddhist Studies, Mahatma Gandhi International Hindi University.

Corresponding Author
Krishna Chandra Pandey
डॉ. कृष्ण चंद पांडे

DOI
https://doi.org/10.29121/shodhkosh.v4.i1.2023.2655

Funding: This research received no specific grant from any funding agency in the public, commercial, or not-for-profit sectors.

Copyright: © 2024 The Author(s). This work is licensed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License.

With the license CC-BY, authors retain the copyright, allowing anyone to download, reuse, re-print, modify, distribute, and/or copy their contribution. The work must be properly attributed to its author.

ABSTRACT

English: Lord Buddha said that all human beings on this earth are unhappy. He did not define sorrow, he only indicated it that when a human is born, he experiences sorrow, when old age surrounds him, he experiences sorrow, when he dies, he experiences sorrow, when he comes in contact with something unpleasant (person, thing, event etc.), he experiences sorrow, similarly separation from a loved one also becomes the cause of sorrow. Thus, in every event of life, he saw the inevitable presence of the element of sorrow or Dharma and preached about it, but he did not clearly state what sorrow actually is, rather he pointed out the places, symptoms and characteristics indicating its presence and left its discovery to the efforts and endeavor of man. Man understood that the unfavorable sensations are sorrow, and thus man found it as a Dharma relative to or parallel to or competitive to the favorable sensations. Besides this, man also understood that the religion which is endured with difficulty, which is evil, is the religion of sorrow.

Hindi: भगवान बुद्ध ने कहा कि इस जगतीतल पर सभी मनुष्य दुखी हैं, उन्होंने दुःख की परिभाषा नहीं की, केवल उसका संकेत भर किया कि 'मनुष्य जब जन्म लेता है, तो वह दुःख पाता है, जब उसे वार्धक्य घेरता है, तो वह दुःख पाता है, जब वह मरता है, तो वह दुःख पाता है, जब उसका किसी अप्रिय (व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि) से संयोग होता है तो वह दुःख पाता है, इसी प्रकार प्रिय व्यक्ति का वियोग भी उसके दुःख का कारण बनता है। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक घटनाक्रम में उन्होंने दुःख-तत्त्व अथवा धर्म की अनिवार्य उपस्थिति को देखा और उसकी देशना की, किंतु दुःख असल में क्या है, उन्होंने स्पष्टत: नहीं बताया, अपितु उसकी उपस्थिति के संकेतक स्थलों, लक्षणों और विशेषताओं का निर्देश कर इसके अविष्कार को मनुष्य के पुरुषार्थ और उद्यम पर छोड़ दिया।मनुष्य ने यह समझा कि जो प्रतिकूल संवेदन हैं, वे ही दुःख हैं, और इस प्रकार मनुष्य उसे अनुकूल संवेदनों के सापेक्ष अथवा उसके समानांतर अथवा प्रतियोगी धर्म के रूप में पाया। इसके अतिरिक्त मनुष्य ने यह भी समझा कि जो धर्म कठिनाई से सहन किया जाता है, दुष्कृत है, वह धर्म दुःख है।

Keywords: Buddhist, Context, Art and Yoga

भगवान बुद्ध ने कहा कि इस जगतीतल पर सभी मनुष्य दुखी हैं, उन्होंने दुःख की परिभाषा नहीं की, केवल उसका संकेत भर किया कि 'मनुष्य जब जन्म लेता है, तो वह दुःख पाता है, जब उसे वार्धक्य घेरता है, तो वह दुःख पाता है, जब वह मरता है, तो वह दुःख पाता है, जब उसका किसी अप्रिय (व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि) से संयोग होता है तो वह दुःख पाता है, इसी प्रकार प्रिय व्यक्ति का वियोग भी उसके दुःख का कारण बनता है। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक घटनाक्रम में उन्होंने दुःख-तत्त्व अथवा धर्म की अनिवार्य उपस्थिति को देखा और उसकी देशना की, किंतु दुःख असल में क्या है, उन्होंने स्पष्टत: नहीं बताया, अपितु उसकी उपस्थिति के संकेतक स्थलों, लक्षणों और विशेषताओं का निर्देश कर इसके अविष्कार को मनुष्य के पुरुषार्थ और उद्यम पर छोड़ दिया।मनुष्य ने यह समझा कि जो प्रतिकूल संवेदन हैं, वे ही दुःख हैं, और इस प्रकार मनुष्य उसे अनुकूल संवेदनों के सापेक्ष अथवा उसके समानांतर अथवा प्रतियोगी धर्म के रूप में पाया। इसके अतिरिक्त मनुष्य ने यह भी समझा कि जो धर्म कठिनाई से सहन किया जाता है, दुष्कृत है, वह धर्म दुःख है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त अनुभव से अलग भगवान बुद्ध की खोज थी। उन्होंने जीवन को दुःख-सुख का समानांतर प्रवाह, अथवा दुःख को सुख का प्रतियोगी नहीं पाया था। उन्होंने जीवन के हर पहलू में दुःख को दुबके बैठा देखा था, और काल के प्रत्येक क्षण के ऊपर उन्होंने उसे आसन जमाए देखा था। इस सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सार्वत्रिक दुःख-तत्त्व के आविष्कार को मानवीय इतिहास में उनका परम रचनात्मक प्रदेय माना जाना चाहिए। प्रसिद्ध है कि कविता, जो कि कला भी है, का जन्म दुःख-संतप्त हृदय की दारुण व्यथा अथवा करुणा से हुआ। यह भी प्रसिद्ध है कि "नानृषि: कविरित्युक्तम ऋषिस्तु किल् दर्शनात्" कवि ऋषि के समान द्रष्टा होता है, वह किसका द्रष्टा होता है, इस प्रश्न अथवा जिज्ञासा के उत्तर में कहा जा सकता है कि जो साधारणत: गोचर नहीं है, हमारे दैनन्दिन जीवन, घटना, रागात्मक सम्बंध, आदि-व्याधि के परे और पार जो देखा पाता है, वह कवि भी ऋषि के तुल्य है, जो मानवीय बुद्धि से अगम्य, इन्द्रिय अतीत, अमूर्त विषय को प्रज्ञ और भावगम्य ही नहीं करता अपितु उसे कल्पना का मनोरंजक रूप देकर नई अर्थवत्ता, नया जीवन दे देता है। वह दृश्यमान वस्तु का संस्कार करता है, उसमें गुणों का आधान करता है, उनकी नई रचना करता है। वह वस्तु को वही नहीं रहने देता, जैसी वह होती है। दृश्य, अदृश्य नाना प्रकार की वस्तुओं को मानस प्रत्यक्ष कर, वह सहज सत्य, सर्वानुभव के रूप में उसे प्रतिष्ठा देता है, यदि यह कर्म अथवा कर्म-व्यापार कला है, तो इसका कर्ता कवि है, जो ऋषि से अभिन्न है, और इस रूप में बुद्ध को शीर्षस्थ कलाकार कहा जा सकता है, अथवा वस्तु, तत्त्व का कायाकल्प कर देने वाले रचनाकारों में श्रेष्ठतम कहा जा सकता है।

यहाँ वस्तुत: गौतम बुद्ध के कलाकार होने को लेकर तर्क सिद्धि नहीं की जा रही है, वरन कला के उत्स को लेकर, अथवा रचना-प्रक्रिया अथवा सृजन-संदर्भ के हवाले से उस दृष्टि की बात की जानी है, जो रचनानुभूति का और योगज अनुभूति दोनों का समान आधार बनती है। और इस आधार पर ही कला और योग के बीज पड़ने से, उनमें स्फुरण से प्रतिविशिष्ट सत्यों का, सांव्यावहारिक और पारमार्थिक भेद से सत्य में पर्यवसान होता है।

अपने राजकुल और प्रासाद में रह रहे सिद्धार्थ के जीवन के बारे कौन जानता है, अथवा इस प्रश्न को उलट कर पूछा जा सकता है, कि सिद्धार्थ गौतम के जीवन को कौन जानना चाहता है ? इसी प्रश्न को प्रकारांतर से इस तरह भी प्रत्युपस्थित किया जा सकता है कि कोई सिद्धार्थ गौतम के जीवन को क्यों नहीं जानता अथवा जानना चाहता? लेकिन इसी प्रश्न को यदि बड़ा कर दिया जाय और इस प्रकार पूछा जाय कि भगवान बुद्ध के जीवन की क्या-क्या विशेषताएँ हैं, भगवान बुद्ध के जीवन में क्या मूल्यवान है, अथवा क्यों मूल्यवान है, इसका उत्तर क्या इसके सिवाय कुछ भी हो सकता है कि उन्होंने नाना अस्थिर, अनित्य, जागतिक और मर्त्य धर्मों से एक स्थिर, नित्य, असंस्कृत और शाश्वत सत्य का आविष्कार कर लिया था, और उनका यह आविष्कार क्या दुःख के भीतर से एक अखंड प्रेम और करुणा का आविष्कार नहीं था, और क्या इस आविष्कार से सिद्धार्थ गौतम का जीवन भी विशेष मूल्यवान नहीं हो जाता, तो क्या यह एक ही पुरुष की रचनाशीलता की दो स्थितियाँ नहीं हैं, जब एक रचना, भले वह दुःख की रचना हो, को रचकर रचनाकार स्वयं कुछ से कुछ हो जाता है, और अपने पूर्व की सभी स्थितियों को, घटनाओं को, जीवन को रचनाशीलता के एक ही विकासक्रम में उपन्यस्त और ख्यापित कर उन्हें नई अर्थवत्ता दे देता है।

लेकिन हम बात कर रहे हैं, दुःख की, रचना की अथवा सृजन की उस प्रक्रिया की जिससे कला जन्म लेती है, अथवा हम यह भी बात कर रहे हैं कि कला हो अथवा योग हो, दोनों की उदय-प्रक्रिया समान है। और इसी बात के लिए हमने द्रष्टा की बात लाई थी। दुःख का अनुभव यदि प्रतिकूल संवेदन मात्र तक रह जाएगा, तब वह व्यक्ति को आँख (दृष्टि) नहीं दे सकता, और न ही किसी सृजन की आकांक्षा को जन्म दे सकता है। कहना यह चाहिए कि पहला सृजन सहज आकांक्षा से नहीं होता, बलात् ही होता है, क्योंकि उसमें भोगे गए तीव्र दुःख की अनुभूतियाँ मनुष्य के समक्ष एक बिलगाव के साथ खड़ी होती हैं, और वहीं उकसाती हैं रचना के लिए, यदि वे अनुभूतियाँ मनुष्य को मसलकर, उसके अहंकार को उससे छिलके की भाँति अलग नहीं कर देतीं, तो मनुष्य का अविद्या उसकी आँख पर पड़े पट्टी की तरह उसे कुछ देखने ही नहीं देंगी, इस स्थिति में तो मनुष्य नवीन क्या ही देख सकेगा, किंतु दुःख जब मनुष्य पर तीव्रतम और व्यापकतम रूप में घटित होता है तो उसकी अनुभूति धीरे-धीरे एक तटस्थ अनुभूति के रूप में, और फिर सहज सत्य में पर्यवसित होते उसका नित्य सहचर बन जाता है, जो उसके साथ-साथ रहता है, साथ-साथ चलता है, और उसे रचना कर्म में प्रवृत्त करता है।

कोई पूछ सकता है, कि यदि बुद्ध रचनाकार हैं, तो उनके रचना-कर्म का मूल हेतु किसमे खोजना चाहिए, इसका एक तात्तकालिक उत्तर तो यह होगा जो सहम्पति ब्रह्मा के द्वारा लोक दर्शन एवं शोक संतप्त मनुष्यों को देखने के बाद भगवान बुद्ध को अनुभव हुआ, अर्थात् करुणा । किंतु यदि इस कृतित्व के पीछे वास्तविक हेतु का ही संधान करना हो तो हमें उन दुःखमूलक दृश्यों अथवा घटनाओं की ओर जाना होगा जिन्होंने बोधिसत्त्व सिद्धार्थ को झकझोर दिया, और मानो उनका कायाकल्प कर दिया, उन्हें वहीं रहने नहीं दिया, एक नया, सर्वथा अलग, अनुपमेय पुरुष बना दिया। ये दृश्य दुःख के रूपक थे, और ये सहस्रों व्यक्तियों के द्वारा नित्य प्रति अनुभूत होते थे, किंतु एक दिन, सहसा सिद्धार्थ नाम के राजकुमार के द्वारा दृश्य होने पर, उन्होंने उसके समक्ष किसी महान सत्य को उजागर करते हुए उसके भावी कृतित्व का आधार निर्मित किया, किंतु देखे गए दुःखमूलक उन दृश्यों और उससे प्राप्त अनुभव से निकलकर, बिलग होकर, उस कृतित्व तक पहुँचने में जिस पीड़ा को सहने-भोगने की साधना से गौतम सिद्धार्थ को गुज़रना पड़ा, वह पीड़ा महान थी, उसका सहना महान था, और उससे पैदा हुई रचना महान थी। इसलिए यह अत्युक्ति नहीं है कि दुःख जितना महान होगा, उसकी पीड़ा, उसकी तीव्रता, उसकी साधना और उससे पैदा हुई रचना उतनी ही महान होगी, तथा ऐसी रचना का स्थायित्व, उसका काल (विस्तार) भी महान होगा!

ऐसा दुःख अगर नितांत वैयक्तिक दुःख होता, सिद्धार्थ गौतम का नितांत अपना निजी दुःख, तब क्या वह उनके भीतर किसी गहरे आलोड़न-विलोडन का हेतु बनता? क्या वे दृश्य और उनसे संप्रेष्य अर्थ अपनी तटस्थता और व्यापकता के साथ उनके सामने न उठ खड़े होते, उन्हें विस्मय में डालकर, उन्हें झकझोरते हुए, मथकर किसी और बड़े अर्थ के अनुसंधान के लिए प्रणिधान का, संकल्प का हेतु न बनते, तो वे दुःख ठूँठ रह जाते, उनसे कल्पना और सत्य का, रचना और सृजन का कोई कोंपल न फूटता। परंतु यह भी एक आंतरिक प्रक्रिया है, जिससे गुजकर मनुष्य कुछ का कुछ हो जाता है, वस्तुएँ कुछ का कुछ हो जाती हैं। सिद्धार्थ ने दुःख दर्शन के पश्चात सत्य की गवेषणा के लिए तप का निश्चय घर-बार छोड़ा, नाना गुरुओं के सान्निध्य-साहचर्य में छः वर्ष बिताए, अनेक योग साधना की विधियों का उपयोग किया, एकांतवास किया और अंत में कुछ ग्राम महिलाओं के द्वारा बजाए जाने वाले वीणा के मधुर संगीत को सुनकर इस तत्त्व को जाना कि 'जिस प्रकार वीणा के तार को अधिक कसे जाने पर उससे संगीत पैदा नहीं होता, न ही उसे अधिक ढीला छोड़ देने पर ही संगीत पैदा होता है, उसी प्रकार जीवन, उसका सत्य, मध्य अथवा संतुलन के स्वीकार से उपलब्ध होता है।' वीणा का सादृश्य, संगीत की यह समानता, मध्य का यह स्वीकार ही वह तत्त्व (बोध) था, जो उन्हें बोधि की ओर ले गया, उन्हें सम्यक् संबोधि में प्रतिष्ठा दिलाया। यह तत्त्व कला का किंवा जीवन का सत्य था, लेकिन इस तत्त्व अथवा सत्य तक पहुँचने में भी उन्हें कठोर तप से, साधना से, एकांत परिवास से अर्थात् योग से गुज़रना पड़ा था, इस प्रकार कला के सत्य तक पहुँचने का योग माध्यम लगता है, और कलाएँ उनकी साध्य अथवा योगाभ्यास से प्राप्त अनुभवों, तत्त्वों, सत्यों की अभिव्यक्तियाँ, किंतु अपने साधना के अंतिम चरण में कला द्वारा प्रस्तुत सत्य को स्वीकार

कर पद्मासन बंध सिद्धार्थ का अंतिम सत्य में प्रवेश करने पर, उसे साक्षात्कार करने पर, ऐसा लगता है मानो कला भी साधन हो, और योगज प्रत्यक्ष और उस प्रत्यक्ष से गोचर अर्थ—सत्य साध्य हों। इस प्रकार जीवन के सहज सत्य, कलाएँ और योग का परस्पर सम्बंध अविभाज्य ठहरता है।